ऋषभनाथ : श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतियों के समन्वय-सेतु

विद्यावाचस्पति
डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव
भिखना पहाड़ी, पटना...

तीर्थंकर आदिनाथ ऋषभदेव मूलतः वैदिक परम्परा के प्रतिष्ठित प्रागैतिहासिक शलाकापुरुष हैं। वे इसी परम्परा से श्रमण-परम्परा में प्रस्थित हुए हैं। उनकी तीर्थयात्रा की पदचाप ब्राह्मण-परम्परा से श्रमण-परम्परा तक समभाव से अनुगूँजित है। जैन-परम्परा ऋषभदेव से ही अपने धर्म का उद्‌भव मानती है। वैदिक साहित्य के तहत ऋग्वेद में जिस ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है, वही जैनधर्म के ऋषभनाथ हैं। ऋषभदेव ब्राह्मण-धर्म और श्रमण-धर्म के समन्वय-बिन्दु के रूप में लोकादृत तीर्थपुरुष हैं।

प्राच्य वाङ्मय में 'आर्हत' और 'बार्हत' शब्द दो सांस्कृतिक या धार्मिक परम्पराओं के लिए उपलब्ध होते हैं। 'आर्हत' अर्हत् के उपासक थे और 'बार्हत' वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानोंके आराधक थे। 'बृहती' वेद का वाचक है। बृहती के उपासक ही 'बार्हत' हैं। बार्हत वैदिक यज्ञकार्य को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। आर्हतों और बार्हतों अथवा श्रमण-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा के बीच किसी प्रकार की ऐतिहासिक विभाजन-रेखा खींचना निश्चित तौर पर सम्भव नहीं है। दोनों ही परम्पराएँ समानान्तर विकसित हैं।

'अर्हत्' शब्द के ही समानांतर 'अर्ह' और 'अर्हणा' शब्द ऋग्वेद में मिलते हैं, जो पूज्य और श्रेष्ठ के वाचक हैं। जैसे

नृचक्षसो अनिमिषन्तो 'अर्हणा' बृहद्‌देवासो अमृतत्वैमानशुः।

(ऋक्. 10.63.4) अंक हिन्दी के 1,2,3.....रखें

यहाँ 'अर्हणा' शब्द पूजा या सम्मान का द्योतक है। शाब्दिक अर्थ है - पूज्य। इसी प्रकार ऋग्वेद का एक मन्त्रांश है -

यदर्यो 'अर्हाद्' द्युमद् विभाति क्रतुमद् जनेषु।

(2.23.15)

यहाँ भी 'अर्ह' शब्द योग्य और आदरणीय या पूज्य अर्थ का ही वाचक है।

'ऋषभ' या 'वृषभ' शब्द का भी ऋग्वेद में भूरिशः उल्लेख पाया जाता है, जिसका अर्थ बल-वीर्य से सम्पन्न देवता है। एक मन्त्र इस प्रकार है -

यः सप्तरश्मिभिर्वृषभस्तुविस्मान्,
अवासृजत् सर्त्तवे सिन्धून् । (२.१२.१२)

यहां 'वृषभ' का अर्थ मेघ की शक्ति को रोकने वाला देवता है। पुनः दूसरा मन्त्र है -

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति। (४.५८.३)

यहाँ 'वृषभ' शब्द का अर्थ सुख बरसाने वाला है। ऋग्वेद के ही अंगभूत तैत्तिरीय आरण्यक में 'ऋषभ' शब्द का महा बलशाली के अर्थ में स्पष्ट उल्लेख हुआ है : '**ऋषभं वाजिनं वयं पूर्णमासं यजामहे।**' (३.७.५.१३) अर्थात् महाबलशाली, वेगवान् पूर्णमास की हम पूजा करते हैं।

अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में भी 'ऋषभ' शब्द का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है - 'वैश्वानरं विभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।' (१२.१.६) यहाँ विश्वम्भरा वसुमती पृथ्वी को 'ऋषभा' कहा गया है।

इस प्रकार ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में पूज्यतासूचक अर्ह (अर्हत्) तथा 'ऋषभ' (बलशाली देवता) के उल्लेख से अनुमान होता है कि आर्हतों और बार्हतों के समन्वय की प्रक्रिया ऋग्वेद से ही प्रारम्भ हो गई थी, जिसका पूर्णतम विकास महाभारत - काल या उपनिषद् काल में परिलक्षित होता है। 'वृषभ' और 'ऋषभ' शब्द यद्यपि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, तथापि उनका केन्द्रीय भाव बलशाली देवता ही है। कहीं उनका वर्णन बैल, साँड (वृषभो न तिग्मश्रृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत - ऋक्. १०.८६.१५, 'बृहन्तं चिदृहते रन्धयानि वयद्वत्सो वृषभं शूशुवानः।' तत्रैव १०.२८.९)

मेघ ('अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत् -' ऋक् १०.७५.३) और अग्नि के रूप में हुआ है, तो कई जगह कामनाओं की पूर्ति या कामनाओं की वर्षा करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाले के अर्थ में। ऋषभ ही रुद्र हैं और परमात्मा भी। ब्राह्मणों के शिव ही श्रमणों के ऋषभ हैं।

ज्ञातव्य है कि जैनागमों में ऋषभदेव को धर्म का आदि प्रवर्तक कहा गया है, तो श्रीमद्भागवत् में ऋषभदेव के अवतार को रहस्य या अभिप्राय के सन्दर्भ में बताया गया है कि उनके आविर्भाव का उद्देश्य वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म का विवेचन करना था। इस सन्दर्भ का मूल रूप इस प्रकार है -

"इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान्। बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त - भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्व मन्थिनां शुक्लया तनुवावततार"। (५.४.२०)

श्रीमद्भागवत् में ऋषभदेव को भगवान् माना गया है और उनकी प्रार्थना में सादर यह श्लोक कहा गया है -

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः,
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्रबुद्धेः ।
लोकस्य यः करुणया भयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ।। (५.७.१९)

अर्थात् निरंतर विषय-भोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को, जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोक का उपदेश किया और जो स्वयं निरंतर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति के कारण सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।

इससे स्पष्ट है कि श्रमण और ब्राह्मण दोनों परम्पराओं में विशुद्धचरित ऋषभदेव का समान आदर था। दोनों परम्पराओं ने उन्हें पूज्य माना है। ऋषभदेव जैनों के आदि तीर्थंकर हैं, तो वैदिकों के लिए साक्षात् विष्णु के अवतार हैं। 'अर्ह' या अर्हत् का एक अर्थ विष्णु भी है (दे.आप्टे का कोश)। शिवपुराण के अनुसार अट्ठाईस योगावतारों में ऋषभदेव की भी गणना हुई है। श्रीमद्भागवत् के ही अनुसार ऋषभदेव ने पश्चिमी भारत (बृह्मावर्न्त) में आर्हत धर्म का प्रचार किया था। वे महान् योगेश्वर थे। एक बार इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य (अजनाभखण्ड) में अवृष्टि की स्थिति उत्पन्न कर दी, किन्तु उन्होंने योगबल से वृष्टि करा दी (५.४.४)। उन्होंने अपने शरीर का त्याग योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिए ही किया था) अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणै जडवदवधूतवेषभाषाचारितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायाविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहा-सुरात्मन्यात्मानमसंख्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरूपरराम।" तत्रैव ५.६.६)

'श्रीमद्भागवत् के उल्लेखानुसार भगवान् ऋषभदेव का अवतार रजोगुण से लिप्त लोगों को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए ही हुआ था - 'अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योप शिक्षणार्थः (५.६.१२)।

इस प्रसंग से और फिर भागवत में वर्णित ऋषभदेव की अन्य विशेषताओं से तत्त्वार्थ सूत्र का यह मंगलश्लोक तुलनीय है-

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

ऋषभदेव ने अपने नाम की सार्थकता के बारे में स्वयं कहा है -

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं,
सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यद धर्म आराद्,
अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ।। (५.५.१९)

अर्थात् मेरे इस अवतार-शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिए बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को बहुत दूर पीछे धकेल दिया है, इसी बलशालिता के कारण सत्पुरुष मुझे ऋषभ पुरुष कहते हैं।

श्रीमद्भागवत् के अनुसार ऋषभदेव आत्मतत्त्व की जिज्ञासा (परामवस्तावदबोधजातो-५.५.५) तथा अध्यात्म-शास्त्र के अनुशीलन (अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया - ५.५.१२) को सर्वाधिक मूल्य देते थे, किन्तु परवर्तीकाल के आर्हतों ने अवतारवाद और ईश्वरतत्त्व का अवमूल्यन कर दिया। वे अवश्य ही अर्हतों के उपासक थे, आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाली अध्यात्मवादी परम्परा को स्वीकारते थे, पर अवतार या ईश्वर को मूल्य नहीं देते थे। इस प्रकार अवतार और ईश्वर को मूल्य न देने पर भी श्रमणों और ब्राह्मणों का आत्मतत्त्व मूलक केन्द्रीय भाव एक ही था।

ऋषभ शब्द की तरह 'वातरशना' का भी उल्लेख ऋग्वेद में आया है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मलाः।
वातस्थानुधाजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत् ।।
उन्मदिता मौनेयेन वातां आ तस्थिमा वयम्।
शरीरदेस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ।।
(१०.१३६.२-३)

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं या वे मलिन प्रकाश वाले हैं। इसी कारण वे पिंगलवर्ण के हैं। जब वे प्राणोपासना द्वारा वायु की गति धारण करते हैं, तब प्राणायाम रूप तप की महिमा से दीप्त देवत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

सब प्रकार के लोक-व्यवहार का त्याग कर हम मौनवृत्ति से या मननशील अन्तःकरण से अतिशय हर्षित होते हैं और वायु पर आधृत हो जाते हैं, यानी देहाभिमान से मुक्त घ्यानवृत्ति में स्थित हो जाते हैं। फलतः तुम साधारण मनुष्य हमारे केवल बाह्य शरीर मात्र को ही देख पाते हो। सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं (ऐसा वातरशना मुनि कहते हैं)।

ऋग्वेद में वर्णित वातरशना मुनि वे ही हैं, जिन्हें भागवत् के अनुसार ऋषभदेव ने उपदेश दिया था। भागवत् में यह भी उल्लेख है कि अपने पुत्र भरत को राज्याभिषिक्त करने के बाद स्वयं ऋषभदेव भी वातारशना मुनि की भाँति अवधूत हो गए थे :

"...भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवनएवोर्वरित शरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्त्तात्प्रवव्राज। जडान्धमूकबधिर -पिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव (५.५.२९)।

इस प्रकार ऋग्वेद में संकेतित वातरशना मुनियों के उपदेशक ऋषभदेव स्वयं भी वातरशना मुनियों के प्रमुख प्रमाणित होते हैं। साथ ही ऋग्वेदवर्णित वातरशना मुनियों के लक्षण भागवत् के ऋषभदेव में भी परिलक्षित होते हैं।

ऋग्वेद के उक्त सूक्त में ही 'केशी' की स्तुति उपलब्ध होती है। यह 'केशी' और कोई नहीं, वरन् ऋषभदेव ही हैं। मंत्र इस प्रकार है -

केश्यग्निं केशी विषं केशी विभर्त्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्द्दशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।।(१०.१३६.१)

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग (आकाश) और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त जगत् को व्यापकता के साथ दृष्टिगत कराता है। केशी ही प्रकाशमान (ज्ञानमय) ज्योति (केवल-ज्ञानी) है।

वातरशना मुनि से सम्बद्ध इस सूक्त में कुल सात मन्त्र हैं, जिनमें छठा और सातवाँ मन्त्र भी केशी की स्तुति से ही सम्बद्ध है। ऋग्वेदोक्त केशी देवता ऋषभदेव का ही पर्याय है।

ऋषभदेव का केशी विशेषण इस अर्थ में सार्थक है कि उनके केश बड़े खूबसूरत और धुँघराले हैं। उनका रूप-सौंदर्य कामदेव के भी दर्प को चूर करने वाला था। भागवत् में उपलब्ध उनके नखशिख का वर्णन सौन्दर्य-शास्त्रियों के अध्ययन का उपजीव्य बन सकता है : 'अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुल -बाह्वंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनालिनदलायमानशिशिरतारारुणायतनयनरुचिरः सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढ़स्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागलम्बमान कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारो ...।" (५.६.३१)

अर्थात् ऋषभदेव के हाथ-पैर, छाती, लम्बी-लम्बी बाँहें, कंधे, गले और मुख आदि अंगों की बनावट बड़ी सुकुमार थी, उनका स्वभावतः सुन्दर मुख, स्वाभाविक मधुर मुस्कान से और भी मनोहर जान पड़ता था, नेत्र नवीन कमलदल के समान बड़े सुहावने, विशाल और कुछ लाली लिए हुए थे, जिनकी पुतलियाँ शीतल और संतापहारिणी थीं। अपने सुभग नेत्रों के कारण वे बड़े रूप-मनोरम प्रतीत होते थे। उनके कपोल, कान और नासिका आकृत्या समान और सुन्दर थे। उनके अस्फुट हास्य-रंजित मनोहारी मुखारविन्द की शोभा देखकर पुरनारियों के चित्त में कामदेव का संचार हो जाता था। उनके मनोज्ञ मुख के आगे भूरे रंग की लम्बी-लम्बी घुंघराली लटें लटकी रहती थीं ....।"

भगवान् ऋषभदेव के कुंचित केशों की परम्परा ऋग्वेद में, वातरशना मुनियों के वर्णन के क्रम में, केशी नाम में प्राप्त होती है और फिर यही वर्णन-परम्परा कुटिल-जटिल-कपिश केशभूरिभारो श्रीमद्भागवत में भी मिलती है। जैन-परम्परा में ऋषभदेव की मूर्तियों के सिरों पर कुंचित केशों की अंकनप्रथा प्राचीनकाल से चली आई है, जो आज भी कायम है। यह ऋषभदेव का विशेष अभिज्ञान है। केसर, केश और जटा तीनों एक ही अर्थ के वाचक हैं। ऋषभदेव को 'केसरियानाथ' भी कहते हैं। सिंह भी अपने केशों या केसरों के कारण ही केसरी कहलाता है। शब्दसाम्य के कारण केसरियानाथ पर केसर चढ़ाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्रथा अवश्य चल पड़ी हो, परन्तु ऋषभदेव के 'केसरियानाथ' नाम का उनके कुंचित केशभार के कारण प्रचलित होना अधिक युक्तिसंगत है। 'वसुदेवहिण्डी' के वर्णनानुसार ऋषभ स्वामी के केश दक्षिणावर्त यानी दाईं ओर से घुँघराले और काले थे, जिससे उनका सिर छत्र के समान सुशोभित था : 'उसभसामी पत्त जोव्वणो या छत्तसरिससिरो पयाहिणावत्तकसिण सिरोओ।' (द्र. इन पंक्तियों के लेखक द्वारा अनूदित-सम्पादित संस्करण, १९८९ ई., पृ. ४९७)

कई विद्वान् वेदों का रचनाकाल ईसा से पाँच हजार वर्ष या इससे भी अधिक पूर्व मानते हैं, किन्तु इतिहासवेत्ताओं का एक ऐसा भी वर्ग है, जो वेदों की रचना ईसा से सिर्फ १५०० वर्ष पहले की बताता है। इससे स्पष्ट है कि ऋषभदेव इससे भी प्राचीन हैं, तभी तो वेदों में उनका उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार जैन-धर्म या जैन विषयक सन्दर्भ ऋग्वेदकालीन ही नहीं, ऋग्वेद-पूर्ववर्ती हैं।

उक्त साक्ष्य-सन्दर्भों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनियों और भागवत के वातरशना श्रमण ऋषियों में सहज समानान्तरता है। इनके ही अधिनायक ऋषभदेव का जैन-साहित्य में और श्रीमद्‌भागवत में एक जैसा ही वर्णन मिलता है। इससे यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि जैन परम्परा की तरह जैनेतर परम्परा में भी ऋषभदेव की मान्यता थी और उनकी पूजा-प्रार्थना या आराधना-उपासना दोनों परम्पराओं में समान भाव से प्रचलित थी।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि समस्त आर्य जाति में समान रूप से ऋषभदेव की न्यूनाधिक मान्यता अति प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही है। इससे इस धारणा को भी बल मिलता है कि ऋषभ समग्र आर्यप्रजा के अर्हणीय देव हैं, साथ ही वे ब्राह्मण और श्रमण दोनों संस्कृतियों के समन्वय के सेतु-पुरुष हैं।

सन्दर्भ

१. ऋषभ देव के दिव्य चरित के अनुशीलन के लिए श्रीमद्‌भागवत के पञ्चम स्कन्ध के अध्याय तीन से छः द्रष्टव्य हैं।

२. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य-महावीर : व्यक्तित्व, उपदेश और आचारमार्ग : रिषभदास राँका प्र. भारत जैन महामण्डल, बम्बई, पृ. १२-१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org